



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2017; 3(12): 525-526
 www.allresearchjournal.com
 Received: 18-10-2017
 Accepted: 19-11-2017

संदीप कुमार

शोधार्थी, इतिहास,
 डी0 एस0 बी0 परिसर,
 कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल,
 उत्तराखण्ड, भारत

गुलामों के गुलाम

संदीप कुमार

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास का एक वीभत्स पक्ष यह भी है कि औपनिवेशिक काल में जहाँ भारतीय समाज व जन-मानस ब्रिटिश शासन के अधीन गुलामी व पराधीनता की जंजीरों में जकड़ें हुए थे वही भारतीय समाज का एक वर्ग गुलामों के अधीन भी गुलामी व परिष्कृत होने का दंश ना जानें कितनी सदियों से झोले जा रहा था। वह समाज था भारतीय वर्ण-व्यवस्था का चतुर्थ वर्ण शूद्र। वैसे वह वर्ण कहा जाये यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि वर्ण तो तीन ही थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तथाकथित चतुर्थ वर्ण जिसे शूद्र कहा जाता है किसी भी अर्थों में सवर्णों से बराबर नहीं था या यूँ कहे कि ऋग्वेद की पुरुष सूक्त की अवधारणा के अनुरूप ही वह अन्य वर्णों के पैरों में था, जिसे ना जानें कितने वीभत्स व अपमानित नामों से इतिहास में जाना जाता है। गुलामी के संदर्भ में होमर लिखता है – जिस दिन किसी व्यक्ति को गुलाम बनाया जाता है उस दिन उसके आधे गुण समाप्त हो जाते हैं। भारतीय समाज में तो यह जन्मजात अस्पृश्यता के रूप में विद्यमान है, तो यह परिकल्पना भी एक दुःस्वप्न से कम नहीं कि भारतीय समाज के उस अपवंचित वर्ग की मनोदशा, आर्थिक व सामाजिक क्रियाकलाप किस स्थिति में होंगे?

कतिपय विद्वान भारत में गुलाम प्रथा के अस्तित्व को नहीं मानते व भारतीय वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक विभाजन का तार्किक आधार देकर इसे गुलामी से कही अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। लाला लाजपत राय अपनी पुस्तक अनहैप्पी इंडिया में इसी प्रकार के तर्क देते हैं। लेकिन भारतीय अस्पृश्यता व गुलामी अन्य देशों की गुलामी प्रथा से भी वीभत्स रूप धारण किये हुए थी। श्री बैरी स्लेवरी इन रोमन इम्प्रायर में बताते हैं कि "दास प्रथा विद्यमान थी मगर इनमें से कई ख्याति प्राप्त करके उच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। उन्हें व्यापार करने का अधिकार प्राप्त था, व्यापार विशेष के बढ़ने पर उन्हें छूट भी मिलती थी इस गुलामी की प्रथा से।"¹

वाङ्मयकार के अनुसार "अछूतों के लिए प्रगति के सारे रास्ते बंद थे, जबकि रोमन गुलामों के लिए वो पूरी तरह खुले थे। अस्तु स्पष्ट है कि अस्पृश्यता को गुलामी से श्रेष्ठ ठहराने की दलील व्यर्थ है। विश्व में ऐसा धर्म शायद ही हो जो अपने ही धर्मावलंबियों को निम्न समझा जाता है।"²

डॉ० अंबेडकर के अनुसार: "दास की परिभाषा करते हुए प्लेटो ने कहा है कि दास वह है, जो दूसरों के कार्य करता है तथा दास का आचरण दूसरों द्वारा नियंत्रित होता है। यदि हम इस परिभाषा को मान लें तो अस्पृश्य सचमुच ही दास है। अस्पृश्यों को एक ऐसे सामाजिक ढाँचे में ढाला गया है कि वे अपनी दशा पर उफ तक ना कर सकें।"³

डॉ० अंबेडकर के अनुसार 4

1. गुलामी बाध्यकारी नहीं है, अस्पृश्यता बाध्यकारी है।
2. गुलाम करने के लिए गुलाम की अनुमति होती है, अस्पृश्यता जाति से आती है। दलित जाति में व्यक्ति जन्म लेता है और वह अपने आप अस्पृश्य हो जाता है।
3. गुलामी के कानून ने गुलाम को इससे मुक्त होने की स्वीकृति दी है। यह नहीं की कोई एक बार गुलाम हो गया तो वह जीवन भर गुलाम रहेगा। किन्तु अस्पृश्यता से मुक्ति नहीं क्योंकि व्यक्ति एक बार अछूत पैदा हो गया तो सदा के लिए अछूत हो जाता है।
4. अस्पृश्यता अप्रत्यक्ष है, गुलामी प्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष घटना के खिलाफ लड़ना मुश्किल होता है। प्रत्यक्ष घटना के खिलाफ लड़ना आसान।
5. गुलामी में स्वतंत्रता का हनन प्रत्यक्ष होता है इसलिए गुलाम हमेशा जागरूक रहता है। अस्पृश्यता में स्वतंत्रता का हनन अप्रत्यक्ष होता है इसलिए वह जानकर और सचेत नहीं रह सकता और उसे सबूत हासिल करने में कठिनाई होती है।

Correspondence

संदीप कुमार

शोधार्थी, इतिहास,
 डी0 एस0 बी0 परिसर,
 कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल,
 उत्तराखण्ड, भारत

श्री सुरेश चन्द्र शुक्ल के शब्दों में: "भारतीय समाज में आदिकाल से ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व रहा है, जिन्होंने अपनी इच्छा अनुसार समाज को व्यवस्था दी जिन्में से कुछ बातें सार्वभौमिक व सर्वमान्य रही, तो अनेक ऐसी रही जो भेदभाव मूलक तथा शोषण को बढ़ावा देने वाली थी। सवर्ण- असवर्ण के बीच में ऊँच-नीच और अस्पृश्यता आदि की भावनाएँ ऐसी ही थी, इसी के आधार पर अन्त्यजनों का शारीरिक, बौद्धिक, एवं आर्थिक शोषण भी किया जाता था।"⁵

स्वामी अछूतानंद ने 1922 में अखिल भारतीय अछूत सम्मेलन में कहा था: "आदिधर्मी अछूत-दलित, सवर्ण हिन्दुओं संपन्न मुसलमानों और शासनकर्ता अंग्रेज जाति के तिहरे गुलाम हैं, गाँव में वे अस्पृश्यता और दासता के शिकार हैं शहर में उन पर बेरोजगारी की मार है। उनकी अलग गंदी बस्तियां उनके अनवरत शोषण का पता भी देती हैं जिसकी ओर ब्रिटिश राज ने ध्यान नहीं दिया। दलित तो मेहनतकश लोग हैं, लेकिन जाति प्रथा के कलंक और अस्पृश्यता के विष ने उन्हें डस रखा है। यह सब हिन्दु समाज की मेहरबानी है। जिस पर अचरज है अभी तक अंग्रेज सरकार पूरी तरह ध्यान नहीं गया है।"⁶

1814 में "रे0 सी0 टी0 ई0 इनियस नामक एक जर्मन ईसाई धर्म प्रचारक भारत आया था। वह अपनी डायरी में लिखता है कि जाति संस्था के कारण एक जाति का अन्य जाति से जो भेद है उससे अछूत हिन्दुओं को अपने नहीं लगते। वास्तविकता यह है कि जाति और वर्ण को वे अपना, बड़ी शान से उनका उल्लेख करते हैं। अत्यन्त निकृष्ट और पशुवत जीने वाले अन्त्यजों में भी जातियाँ- उपजातियाँ होती हैं। जो जाति जितनी हीन होती है वह उतनी ही अधिक मजबूत होती है। अछूत में अपनी जाति से चिपके रहने की प्रवृत्ति काफी अधिक है।"⁷

नस्लीय आधार पर भेदभाव अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका तथा यूरोप के कुछ देशों में देखने को अभी भी मिलती है। लेकिन रंगभेद की समस्या दलितों की समस्याओं से अलग है काले गोरे रंग के आधार पर विभाजन को दैवीय सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिस्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया है।

"उपनिवेशी शासन ने जातिप्रथा को उसके उपनिवेश-पूर्व राजनैतिक संदर्भों से काट दिया, लेकिन अपने ज्ञान, अपनी संस्थाओं और नीतियों के नए ढाँचों में उसका नए सिरे से निरूपण करके और उसे नई शक्ति देकर उसे एक नया जीवन दिया।"⁸ "अल्फ्रेड लायल और फ्रांसीसी नस्लवादी सिद्धान्तकार पॉल तोपिनियर के बाद सबसे प्रमुख उपनिवेशवादी नृजातिशास्त्री हरबर्ट रिज्ली ने अब जाति धारणा को एक नस्ली आयाम प्रदान किया और यह तर्क दिया कि गौर वर्ण वाली ऊँची जातियाँ आर्यों की संतान हैं, जबकि सॉवले रंग वाली निचली जातियाँ इसी देश के अनार्य मूल निवासी थे।"⁹

"भारत में हमारी वास्तविक और मूलभूत समस्या है सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक है। बाकी सारी चीजें इसी मूलभूत समस्या के परिणाम हैं। भारत में विचित्र धार्मिक विचारों वाला शास्त्रों का एक धर्म है। धार्मिक विचार न सिर्फ हावी रहते हैं, बल्कि वे संस्कृति में परिणत हो गया है, जिसे जातियों की संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। दूसरे देशों में ऐसा कहा जा सकता है कि धर्म व्यक्तिगत चीज है और संस्कृति साझी एवं सामूहिक चीज है। लेकिन भारत में दोनों एक ही चीज है।"¹⁰

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार प्रसार कहे, या अंग्रेजों की फूट डालनी की नीति या दलितों में आई राजनैतिक व सामाजिक चेतना कहे, सदियों से चली आ रही सामाजिक व धार्मिक बंधनों की रूढ़िबद्ध जंजीरे अब शिथिल पढ़ने लगी थी। अंबेडकर, फूले, पेरियार, आदि सामाजिक व राजनैतिक चिंतकों के प्रभाव से सदियों से दलितों में चली आ रही गुलामी के प्रति स्वतंत्रता के मुखर स्वर चेतना के रूप में दलित जन-मानस के हृदय में प्रस्फुटित होने लगे थे।

वर्तमान समय में आजादी के 68 वर्ष पश्चात भी जातीय विभेद के यह वीभत्स रूप देखने को मिलता है। "स्वतंत्रता के पश्चात संविधान में दलितों को कुछ विशेष अधिकार दिये गये हैं व उनकी राजनीतिक व सामाजिक सहभागिता को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है लेकिन वस्तुस्थिति वैसी ही प्रतीत होती है जैसी की औपनिवेशिक काल या उसके पूर्व कालों में विद्यमान थी। कवल भारती का मानना है कि संविधान द्वारा सभी नागरिकों के साथ-साथ दलितों को भी समस्त मूल अधिकार प्राप्त हुए हैं। परन्तु उन अधिकारों के उपभोग के लिए आवश्यक उपबंध नहीं किए गए। इसलिए दलितों को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मौलिक अधिकारों को छोड़ना पड़ता है। नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए ऐसे उपाय किए जाएं, जिससे कोई भी नागरिक अपनी आर्थिक जरूरतों को अपने मौलिक अधिकारों की कीमत पर पूरा करने के लिए मजबूर न हो सके। यह तभी हो सकता है जब संविधान का मूल आर्थिक ढांचा राजकीय समाजवाद का हो।"¹¹

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अंबेडकर, डॉ० भीमराव, बाबा साहब अंबेडकर खण्ड-9: स्लैवरी इन रोमन इम्प्रायर, डॉ० अंबेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, 1998, पृ०-63
2. अंबेडकर, डॉ० भीमराव, बाबा साहब अंबेडकर खण्ड-9 : स्लैवरी इन रोमन इम्प्रायर, डॉ० अंबेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, 1998, पृ०- 101
3. अंबेडकर, डॉ० भीमराव, बाबा साहब अंबेडकर खण्ड-2, डॉ० अंबेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, 1993, पृ०-28
4. स्रोत-http://www.rachanakar.org/2012/05/blog-post_9879.html?m=1downloading_date-01-10-2016_time:7:16_a.m
5. शुक्ल, सुरेश चन्द्र, हिन्दी दलित साहित्य का इतिहास, पृ०-49
6. डीनकर, डी० सी०, स्वतंत्र संग्राम में अछूतों का योगदान, गौतम बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 2007 पृ०-83
7. चोपडा, पी० एन० व पुरी, ए सोशल कल्चरल एन्ड इकनोमिक हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड-03, मैकमिलन प्रकाशन, 1999 पृ०-78
8. बंदोपाध्याय, शेखर, पलासी से विभाजन तक, ओरिएंट ब्लैक्सवॉन, नई दिल्ली, 2010, पृ०- 373
9. बंदोपाध्याय, शेखर, पलासी से विभाजन तक, ओरिएंट ब्लैक्सवॉन, नई दिल्ली, 2010, पृ०- 374
10. मान्यवर काशीराम, चमचा युग, समता प्रकाशन, नागपुर, 1998 पृ०- 123
11. भारती, कवल, जाति धर्म और राष्ट्र, उदभावना प्रकाशन, दिल्ली, 2005 पृ०- 167